

५३



नारणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
तन्त्र-सम्मेलनम्

तान्त्रिक-संस्कृति

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

तान्त्रिक-संस्कृति



महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज



वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

द्वारा आयोजित

तन्त्र सम्मेलन

के अवसर पर प्रकाशित

८ मार्च, १९६५

तान्त्रिक-संस्कृति

यह अत्यन्त आनन्द का विषय है कि वर्तमान युग में हम लोगों का ध्यान अपनी प्राचीन संस्कृति के स्वरूप के अनुसन्धान में क्रमशः सचेत एवं आकृष्ट होता जा रहा है। वेद तथा लुप्तप्राय वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार के लिए प्रतीच्य एवं भारतीय विद्वानों ने जो सुदीर्घ कालव्यापी अक्लान्त परिश्रम किया, उससे हम सब लोग परिचित हैं। तत्कालीन भारतीय शासन की ओर से पुरातत्त्व विभाग की जब से स्थापना हुई, तब से यहां के प्राचीन इतिहास के विभिन्न क्षेत्रों में—विशेषतः स्थापत्य, भास्कर्य, मुद्रा, शिलालेख प्रभृति विषयों में—बहुत से भूले हुए तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। इस तन्त्र-सम्मेलन के शुभायोजन (८, ९, १०, ११ मार्च १९६५) से भी—जिसकी पृष्ठभूमि में प्रादेशिक एवं केन्द्रीय प्रशासन तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अधिकारी वर्ग का महान् योगदान रहा है—सूचित हो रहा है कि देश के सौभाग्य से लुप्तप्राय तान्त्रिक-संस्कृति सम्बन्धी अन्वेषण-कार्य भी क्रमशः सफल होगा। यह एक विचित्र संयोग है कि आधुनिक युग में विस्मृतप्राय वैदिक वाङ्मय के पुनरुद्धार की दिशा में जिस प्रकार मोक्षमूलर प्रभृति प्रतीच्य मनीषियों का प्राथमिक उद्यम रहा है, ठीक उसी प्रकार विस्मृतप्राय तान्त्रिक वाङ्मय की ओर सब से पहले दृष्टि आकृष्ट करने का श्रेय भी प्रतीच्य मनीषियों को ही प्राप्त है। इस विषय में सर जान उडरफ उपनाम आर्थर एवलेन को हम लोगों को नहीं भूलना चाहिए। यद्यपि विभिन्न स्थानों से आंशिक एवं विकीर्ण रूप में तान्त्रिक ग्रन्थों का प्रकाशन-कार्य हो रहा है, किन्तु किसी प्रतिष्ठान ने अब तक सामूहिक रूप से इस महनीय कार्य में हाथ नहीं लगाया। प्रसन्नता की बात है कि इस समय वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय इस कार्य में उत्साह दिखा रहा है।

यह कार्य काशी की परम्परा के अनुरूप है। भारतीय आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रायः सभी प्रकार के साधनों का एक विशिष्ट स्थान काशी रहा है। बुद्धदेव के समय से ही, मैं समझता हूँ उनके भी पहले से विद्या के केन्द्र रूप में काशी की प्रसिद्धि थी। विदेशों से आये पर्यटकों के विवरण से भी यह बात सिद्ध होती है। ऐतिहासिक गवेषणा के प्रभाव से इस विषय में विशेष ज्ञान की प्राप्ति हो सकेगी। मध्ययुग से वर्तमान समय तक दृष्टि देने पर प्रतीत होगा कि इस समय

में भी बहुसंख्यक विशिष्ट तान्त्रिक साधक और ग्रन्थकार काशी में आविर्भूत हुए थे। उदाहरणस्वरूप कई साधकों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) सरस्वती तीर्थ—ये परमहंस परिव्राजकाचार्य थे और दक्षिण से आये हुए प्रकाण्ड विद्वान् थे। ये वेदान्त, मीमांसा, सांख्य, साहित्य तथा व्याकरण छात्रों को पढ़ाया करते थे। इनका मुख्य ग्रन्थ शङ्कराचार्य कृत प्रपञ्चसार तन्त्र की टीका थी।

(२) राघवभट्ट—इनके पिता नासिक से काशी आकर बस गये। राघवभट्ट जन्म से ही काशी में थे। इन्होंने शारदातिलक की टीका पदार्थादर्श लिखी थी जो सर्वत्र प्रसिद्ध है। इस टीका की रचना काशी में हुई थी। रचनाकाल १४६४ ई० है।

(३) सर्वानन्द परमहंस—पूर्ववङ्ग के बहुत उच्चकोटि के सिद्ध पुरुष थे इन्होंने दसों महाविद्याओं का एक साथ साक्षात्कार किया था। यह भी प्रायः चार सौ वर्ष पहले की बात है। इनका अन्तिम समय काशी में ही बीता। किसी-किसी के मत से ये राजगुरु मठ में रहते थे। इनकी अलौकिक शक्तियाँ बहुत थीं। सर्वोल्लासतन्त्र इनका संकलित है।

(४) विद्यानन्दनाथ—ये दक्षिण भारत के निवासी थे। कांची से भी दक्षिण में इनका घर था। ये सर्वशास्त्र के पण्डित थे, किन्तु तन्त्रशास्त्र में विशेष अनुराग था। ये तीर्थयात्रा के प्रसंग से जलन्धर नामक सिद्धपीठ में गये थे। वहाँ सुन्दराचार्य या सच्चिदानन्दनाथ नामक एक सिद्ध पुरुष से मिले थे, उनसे दीक्षा लेकर स्वयं विद्यानन्दनाथ दीक्षित नाम धारण किया और गुरु के आदेश से काशी में आकर रहने लगे। काशी रहते हुए इन्होंने तन्त्रशास्त्र के अनेक विशिष्ट ग्रन्थों का प्रणयन किया। ये भी प्रायः चार सौ वर्ष पहले के आचार्य होंगे।

(५) महीधर—ये अहिच्छत्र से आये थे और काशी में अन्तिम समय तक रहि। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ नौकाटीकासहित मन्त्रमहोदधि है। रचनाकाल १५८८ ईशवीय है।

(६) नीलकण्ठ चतुर्द्धर—ये प्रतिष्ठान (पैठान) के थे, किन्तु आजीवन काशी में रहे। महाभारत के टीकाकार रूप से इनकी विशेष प्रसिद्धि है। इन्होंने तन्त्रशास्त्र में शिवताण्डव की टीका लिखी जिस टीका का नाम अनूपाराम है। रचनाकाल १६८० ईशवीय माना जाता है।

(७) प्रेमनिधि पन्त—ये कूर्माचल से काशी आये हुए थे। ये भी जीवनान्त

तान्त्रिक-संस्कृति

५

तक काशी में ही रहे। इन्होंने बहुत से तान्त्रिक ग्रन्थों का निर्माण किया जिनमें शिवताण्डव की टीका मल्लादर्श का नाम लिया जा सकता है। शारदातिलक तथा तन्त्रराज पर भी इन्होंने टीका लिखी थी। ये करीब २५० वर्ष पहले रहा करते थे।

(८) भास्कर राय—ये दक्षिण देश के थे, किन्तु दीर्घकाल तक काशी में रहे। सिद्धपुरुष के रूप में इनकी ख्याति थी। इन्होंने ललितासहस्र की टीका, सेतुबन्ध, वरिवर पोरडस्थ आदि अनेक ग्रन्थ लिखे थे। १९२९ ईशवीय के आसपास इनका समय जानना चाहिए।

(९) शङ्करानन्दनाथ—इनका पूर्व नाम शंभु भट्ट था, ये अद्वितीय मीमांसक खण्डदेव के शिष्य थे और मीमांसा शास्त्र में ग्रन्थ लिखे। ये श्री विद्या के उपासक थे। इनका सुन्दरीमहोदय नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। १७०७ ई० इनका समय माना जाता है।

(१०) माधवानन्दनाथ—ये सौभाग्यकल्पद्रुम के रचयिता हैं। यह ग्रन्थ परमानन्द-तन्त्र के आधार पर लिखा गया है। ये भी काशी रहे। इनका समय आज से १५० वर्ष पूर्व माना जाता है।

(११) क्षेमानन्द—माधवानन्द के शिष्य क्षेमानन्द प्रसिद्ध तान्त्रिक विद्वान् थे। इन्होंने सौभाग्यकल्पलतिका का निर्माण किया था।

(१२) सुभगानन्दनाथ—नामक एक प्रसिद्ध तान्त्रिक आचार्य काशी में रहते थे। ये केरल देश के थे, पूर्वनाम श्रीकण्ठ था। ये काशी में तन्त्र तथा वेद दोनों के अध्यापक थे। ये माधवानन्दजी के ही समसामयिक माने जाते हैं।

(१३) काशीनाथ भट्ट—इनका भी नाम उल्लेख योग्य है। इन्होंने छोटे-छोटे अनेक तान्त्रिक ग्रन्थ लिखे थे। ये अधिक प्राचीन नहीं, अपितु १०० वर्ष पहले के हैं।

इस प्रकार की गौरवशाली परम्पराओं के मध्य काशी में इस सांस्कृतिक परम्परा का उज्जीवित होना स्वाभाविक होना चाहिए।

वर्तमान समय में हम लोग जिस भारतीय संस्कृति से परिचित हैं, वह काल-प्रभाव से चाहे कितनी भी विकृत एवं संकुचित क्यों न प्रतीयमान हो रही हो; किन्तु यह सत्य है कि वह एक विशाल गौरवमय प्राचीन संस्कृति की उत्तराधिकारिणी है। इस प्राचीनतम संस्कृति का आदिरूप किस प्रकार का था, इसका इस समय अनुमान करना तो संभव नहीं है, क्योंकि इस सम्बन्ध में हम लोग जो कुछ जानते हैं, वह प्रायः ऐतिहासिक युग से ही सम्बन्धित है, फिर भी इस सम्बन्ध

तान्त्रिक-संस्कृति

में कुछ आभास-ज्ञान हम लोगों को अवश्य है; क्योंकि पण्डितों के द्वारा निरन्तर हुए गवेषणाओं के फलस्वरूप अनेकानेक अन्धाकारावृत क्षेत्र में आलोक का संचार होने लगा है।

इस विशाल भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करने पर प्रतीत होगा कि इसके विभिन्न अंश हैं, और अङ्ग प्रत्यङ्ग रूप में विभिन्न विभाग हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें वैदिक साधना ही प्रधान है, किन्तु इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि भिन्न भिन्न समयों में इस धारा में भी नये नये विवर्तन हो चुके हैं। धर्म-शास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास-पुराणादि के आलोचन से तथा भारतीय समाज के आन्तरिक जीवन का परिचय मिलने से उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टतया ज्ञान होगा। वैदिकधारा का प्राधान्य होने पर भी, इसमें सन्देह नहीं है कि इसमें विभिन्न धाराओं का समिश्रण है। इन सब धाराओं के भीतर यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि तन्त्र की धारा ही प्रथम एवं प्रधान है। इस धारा की भी बहुत सी दिशाएँ हैं, जिनमें एक वैदिकधारा के अनुकूल थी। अगली पीढ़ियों के गवेषक-गण इस तथ्य का निरूपण करेंगे कि वैदिकधारा की जो उपासना की दिशा है, वह अविभाज्य रूप से बहुत अंशों में तान्त्रिकधारा से मिली हुई है, और बहुत से तान्त्रिक विषय अति प्राचीन समय से परम्पराक्रम से चले आ रहे थे। मैं समझता हूँ उपनिषद् आदि में जिन विद्याओं का परिचय मिलता है यथा—संवर्ग, उद्गीथ, उपकोशल, भूमा, दहर, पर्यङ्क आदि, ये सभी गुप्त विद्याएँ इसी के अन्तर्गत हैं। मैं समझता हूँ वेद के रहस्य अंश में भी इन सब रहस्य विद्याओं के परिज्ञान का आभास मिलता है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि वैदिक क्रिया-काण्ड भी अध्यात्म-विद्या का ही बाह्य रूप है, जो निम्न अधिकारियों के लिए उपयोगी माना जाता था। यदि इन सब अध्यात्म-विद्याओं का रहस्य-ज्ञान कभी हो जाय, तो पता चलेगा कि मूलभूत वैदिक तथा तान्त्रिक या आगमिक ज्ञानों में विशेष भेद नहीं रहा।

यहाँ प्रसंगतः एक बात का उल्लेख आवश्यक है कि साधारण दृष्टि से संभव है यह समझ में न आवे, फिर भी यह सत्य है कि वेद और तन्त्र का निगूढ रूप एक ही प्रकार का है। दोनों ही अक्षरात्मक हैं, अर्थात् शब्दात्मक ज्ञान-विशेष हैं। ये शब्द लौकिक नहीं दिव्य हैं, और अपौरुषेय हैं। मन्त्रदर्शीगण इसे ही प्राप्त कर सर्वज्ञत्व-लाभ किया करते थे; वे अन्त में आत्मसाक्षात्कार के द्वारा अपना जीवन सफल करते थे। पुराकल्प में लिखा है—

यां सूक्ष्मां विद्याम् अतीन्द्रियां वाचम् ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणः

मन्त्रदृशः पश्यन्ति ताम् असाक्षात्कृतधर्मभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा विल्मं समामनन्ति, स्वप्रवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतम् आचिख्यासन्ते ।

निरुक्त प्रभृति ग्रन्थों के आलोचन से यह प्रतीत होता है कि ऋषिगण साक्षात्कृतधर्मा थे और वे उन सामान्य लोगों को उपदेश द्वारा मन्त्र-दान करते थे, जो असाक्षात्कृतधर्मा थे । साक्षात्कृतधर्मा होने के कारण ऋषिगण वस्तुतः शक्तिशाली थे, अतः वे किसी से उपदेश-श्रवण करके ऋषित्व-लाभ नहीं करते थे; प्रत्युत वे स्वयं वेदार्थ-दर्शन करते थे । इसी अभिप्राय से उन्हें मन्त्रद्रष्टा कहा जाता है । मन्त्रार्थ-ज्ञान का मुख्य उपाय है प्रतिभान, इसे ही प्रातिभ या अनौपदेशिक ज्ञान कहते हैं । इसी के विषय में कहा जाता है—

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ।

गुरु शब्द से यहाँ अन्तर्गुरु या अन्तर्यामी समझना चाहिए । ऐसे उत्तम अधिकारियों को दृष्टि भी कहा जाता है । शक्ति की मन्दता के कारण मध्यम अधिकारी इनसे अवर समझे जाते थे । इनका परिचय श्रुतपि नाम से मिलता है । उत्तम अधिकारी को दर्शन मिलता था उपदेश-निरपेक्ष होकर, और मध्यम अधिकारी को श्रवण-प्राप्त होता था उपदेश-सापेक्ष । प्रथम ज्ञान का नाम आर्षज्ञान और द्वितीय का नाम औपदेशिक ज्ञान है । मनुसंहिता में लिखा है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

किन्तु साधारण अधिकारी को जो ज्ञान होता है, वह सत् तर्क के द्वारा । सत्तर्क से अभिप्रेत है वेद शास्त्र के अविरोधी तर्क के द्वारा अनुसंधान । आगम शास्त्र (त्रि० र० तथा त्रिकदार्शनिक साहित्य) में सत्तर्क का विशेष रूप से मण्डन किया गया है । वैदिक साहित्य में भी यह लिखित मिलता है कि ऋषिगण जब अन्तर्हित होने लगे तो तर्क पर ही ज्ञान का भार दिया गया । सभी साधारण जिज्ञासु लोग अवर-कोटि में हैं, हम सभी इसी कोटि के हैं । इस प्रकार के लिए सत्तर्क ही अवलम्बनीय है ।

तन्त्र शास्त्रों के अनुसार तन्त्र का मूल आधार कोई पुस्तक नहीं है, वह अपौरुषेय ज्ञान विशेष है । ऐसे ज्ञान का नाम ही आगम है । यह ज्ञानात्मक आगम शब्दरूप में अवतरित होता है । तन्त्र-मत में परा-वाक् ही अखण्ड आगम है । पश्यन्ती अवस्था में यह स्वयं वेद्य रूप में प्रकाशित होता है और अपना प्रकाश अपने साथ रखता है । यही साक्षात्कार की अवस्था है, यहाँ द्वितीय या अपर में ज्ञान-संचार करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । वही ज्ञान मध्यमा में

अवतीर्ण हो कर शब्द का आकार धारण करता है। यह शब्द चित्तात्मक है। इसी भूमि में गुरु-शिष्य भाव का उदय होता है। फलतः ज्ञान एक आधार से अपर आधार में संचारित होता है। विभिन्न शास्त्रों एवं गुरु-परम्पराओं का प्राकट्य मध्यमा-भूमि में ही होता है। वैखरी में वह ज्ञान या शब्द जब स्थूल रूप धारण करता है, तब वह दूसरों के इन्द्रिय का विषय बनता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से प्रतीत होगा कि वेद और तन्त्रों की मौलिक दृष्टि एक ही है। यद्यपि वेद एक है किन्तु विभक्त होकर त्रयी या चतुर्विध होता है, अन्ततः वह अनन्त है। 'वेदा अनन्ताः' यह भी वेद की ही वाणी है। आगमों की स्थिति भी ठीक इसी प्रकार की है। अवश्य ही तन्त्र की एक और भी दिशा है जिससे उसका वैदिक आदर्शों से किसी किसी अंश में पार्थक्य प्रतीत होता है, और उस कारण से तान्त्रिक साधना का वैशिष्ट्य भी समझ में आता है। कुछ भी हो, ये सभी मिल कर भारतीय संस्कृति के अंगीभूत हो चुके हैं। जैसे बृहत् जलधारायें मिलकर नदी का रूप धारण करती हैं, और अन्त में महासमुद्र में विलीन हो जाती हैं; वैसे ही वैदिक तान्त्रिक आदि अन्यान्य सांस्कृतिक-धारायें भारतीय संस्कृति में आश्रय-लाभ करती हैं और उसे विशाल से विशालतम बनाती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति का विचार करने पर प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से ही वैदिक तथा तान्त्रिक साधन-धाराओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है; यह बात जैसे सत्य है, वैसे ही यह भी सत्य है कि दोनों में अंशतः वैलक्षण्य भी है। अति प्राचीन काल से ही शिष्ट जनों द्वारा तन्त्रों के समादर के असंख्य प्रमाण उपलब्ध हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि बहुसंख्यक देवता भी तान्त्रिक साधना के द्वारा सिद्धि-लाभ करते थे। तान्त्रिक साधना का परम आदर्श था—शक्त-साधना, जिसका लक्ष्य था—महाशक्ति जगदम्बा की मातृ-रूप में उपासना अथवा शिवोपासना। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, चन्द्र, स्कन्द, वीरभद्र, लक्ष्मीश्वर, महाकाल, काम या मन्मथ ये सभी श्रीमाता के उपासक थे। प्रसिद्ध ऋषियों में कोई कोई तान्त्रिक मार्ग के उपासक थे, और कोई कोई तान्त्रिक उपासना के प्रवर्तक भी थे। ब्रह्मयामल में बहुसंख्यक ऋषियों का नामोल्लेख है, जो शिव-ज्ञान के प्रवर्तक थे; उनमें उशना, बृहस्पति, दधीचि, सनत्कुमार नकुलीश आदि उल्लेख्य हैं। जयद्रथयामल के मङ्गलाष्टक प्रकरण में तन्त्र-प्रवर्तक बहुत से ऋषियों के नाम हैं, जैसे दुर्वासा, सनक, विष्णु, कश्यप, संवर्त, विश्वामित्र, गालव, गौतम, याज्ञवल्क्य, शातातप, आपस्तम्ब, कात्यायन, भृगु आदि।

सबसे पहले दुर्वासा का नाम उल्लेखनीय है। तान्त्रिक साहित्य में 'क्रोध-भट्टारक' नाम से इनका परिचय मिलता है। प्रसिद्धि के अनुसार इन्होंने श्रीकृष्ण को ६४ अद्वैतागमों को पढ़ाया था। यह भी किंवदन्ती है कि कलियुग में दुर्वासा ही आगम को प्रकाश में लाये। नेपाल दरबार के ग्रन्थागार में सुरक्षित महिम्नःस्तोत्र की एक पोथी में इनके सम्बन्ध में लिखा है—'सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति. देशिकः प्रथमः'। जयद्रथयामल नामक आगम के अनुसार भी तन्त्र के प्रवर्तक ऋषियों में दुर्वासा का नाम प्रथम है। यह विचारणीय है कि दुर्वासा की धारा कौन सी थी? प्रसिद्धि है कि ब्रह्मयामलानुसारी सभी तन्त्रों के भीतर दुर्वासा-मत प्रथम है। यह बात दरबार ग्रन्थागार में उपलब्ध पिंगलागम में पिंगला-मत के प्रसंग में उल्लिखित है। अर्धचन्द्रकला विद्याओं के भीतर भी दुर्वासा का मत उल्लेखनीय है। चन्द्रकला विद्याएँ कौल तथा सोम (कापालिक) मतों की संमिश्रण हैं। प्राचीन काल में इन विद्याओं में चारों वर्णों का अधिकार था, किन्तु विशेष यह था कि त्रैवर्णिक लोग दक्षिण-मार्ग से अनुष्ठान करते थे और अन्य लोग वाम-मार्ग से।

दुर्वासा श्रीमाता के उपासक थे। श्रीमाता के द्वादशविध उपासकों में उनका भी एक नाम है। सुनने में आता है कि उनकी उपास्य षडक्षरी विद्या थी (द्रष्टव्य त्रिपुरतापिनी उपनिषद्-टीका)। किसी किसी के मत में ये त्रयोदशाक्षरी विद्या के उपासक थे। सौन्दर्य-लहरी की टीका में कैवल्यश्रम ने इस विद्या का कादि मत के अनुसार उद्धार भी किया है। इतने के बाद भी दुर्वासा का सम्प्रदाय इस समय लुप्तप्राय ही है।

जहाँ तक स्मरण है कि आज से प्रायः ३६ वर्ष पूर्व, संभवतः १९२८ ख्रीस्टाब्द में एक प्राचीन ग्रन्थागार से कौल सूत्र की एक खण्ड प्रतिलिपि मुझे मिली; उसके मुख-ग्रन्थ में ही लिखा है—

षड्दर्शनातिरिक्तेऽर्थे सूत्रधारो भुवं श्रितरुद्रावतारो दुर्वासाः स्तूयते
स्पर्शकामधुक् ।

यह ग्रन्थ दुर्वासा के मतानुसार कौल-विज्ञान विषयक था।

निम्नलिखित ग्रन्थों में दुर्वासा की चर्चा है—

(१) त्रिपुर-सुन्दरी (देवी)-महिम्नःस्तोत्र-टीका में नित्यानन्द नाथ ने कहा है—

सकलागमाचार्यचक्रवर्ती साक्षात् शिव एव अनसूयागर्भसम्भूतः क्रोध-भट्टारकाख्यो दुर्वासा महामुनिः ।

(२) ललितास्तव-रत्न ।

(३) परशिव-महिम्न-स्तोत्र अथवा परशम्भु-स्तुति ।

दुर्वासा श्रीविद्या तथा परमशिव के उपासक थे । कालीसुधानिधि ग्रन्थ से यह पता चलता है कि ये काली के भी उपासक थे ।

प्रसंगवश इस समय अगस्त्य के सम्बन्ध में कुछ कहा जा रहा है । यह वैदिक ऋषि थे । इनके सम्बन्ध में पाञ्चरात्र तथा शाक्तागमों में भी चर्चा है । इस प्रसिद्ध ऋषि का विवरण पुराण, रामायण महाभारतादि प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है । विदर्भराज की कन्या लोपामुद्रा उनकी धर्मपत्नी थीं, उनकी चर्चा भी प्रायः सर्वत्र देखी जाती है, यह भी अगस्त्य के सदृश ही वैदिक देवता थीं । रामायण के अरण्यकाण्ड में सुतीक्ष्ण मुनि ने भगवान् रामचन्द्र को गोदावरी-तट-स्थित अगस्त्याश्रम का मार्ग दिखाया था । अगस्त्य ने श्रीरामचन्द्रजी को वैष्णव धनु, ब्रह्मदत्त नामक शस्त्र (बाण), अक्षय तूणीर एवं खड्ग दिया था । विन्ध्य पर्वत के साथ अगस्त्य का सम्बन्ध प्रायः सर्वविदित है । दक्षिण दिशा के साथ अगस्त्य का विशेष रूप से सम्बन्ध प्रतीत होता है । यह भी प्रसिद्ध है कि दक्षिण भारतीयों में एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति का भी प्रसार इन्हीं की देन है । ४ अध्यायों और ३०२ सूत्रों का शक्तिसूत्र इन्हीं की रचना है । इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थों में श्रीविद्या-भाष्य भी है; यह हयग्रीव से प्राप्त पञ्चदशी विद्या की व्याख्या है । अगस्त्य और लोपामुद्रा दोनों ही श्रीविद्या के उपासक थे । प्रसिद्धि है कि ब्रह्मसूत्र पर भी ऋषि अगस्त्य ने एक टीका लिखी थी । किंवदन्ती के अनुसार श्रीपति पण्डित का श्रीकरभाष्य उन्हीं के मतानुसारी है । त्रिपुरा-रहस्य के माहात्म्य-खण्ड से पता चलता है कि अगस्त्य उच्च कोटि के वैदिक ऋषि होते हुए भी मेरु-स्थित श्रीमाता के दर्शनार्थ जब उत्सुक हुए तो दर्शन से वे वंचित इसलिए हो गये कि तब तक उन्हें तान्त्रिक दीक्षा प्राप्त नहीं थी; फलतः श्रीमाता के दर्शनोपयोगी विशुद्ध शाक्त देह भी प्राप्त नहीं था । अन्त में पराशक्ति की निगूढ़ उपासना के निमित्त अधिकार-लाभ के लिए देवी-माहात्म्य के श्रवण के अनन्तर उन्होंने शाक्त-दीक्षा प्राप्त की । उपासना के प्रभाव से पति-पत्नी दोनों ने ही सिद्धि-लाभ किया । बाद में इनकी सिद्धि का इतना महत्त्व स्वीकार किया गया कि इन दोनों ने ही गुरु-मण्डल में उत्तम स्थान प्राप्त कर लिया । मानसोल्लास के अनुसार श्रीविद्या के मुख्य उपासकों के बीच अगस्त्य और लोपामुद्रा दोनों का स्थान है ।

दत्तात्रेय भी श्रीविद्या के एक श्रेष्ठ उपासक थे । दुर्वासा के समान ये भी अनसूया के गर्भ से समुद्भूत थे । प्रसिद्धि के अनुसार इन्होंने शिष्यों के हित-

साधन के लिए श्रीविद्या के उपासनार्थ श्रीदत्त-संहिता नामक एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी। बाद में परशुराम ने उसका अध्ययन करके पचास खण्डों में एक सूत्र-ग्रन्थ की रचना की थी। कहा जाता है कि इनके बाद शिष्य सुमेधा ने दत्त-संहिता और परशुराम सूत्र का सारांश लेकर त्रिपुरा-रहस्य की रचना की। प्रसिद्धि यह भी है कि दत्तात्रेय महाविद्या महाकालिका के भी उपासक थे।

इस प्रसंग में शिव-भक्त नन्दिकेश्वर की बात भी स्मरण हो आती है। यह भी श्रीविद्या के उपासक थे। ज्ञानार्णव में उनकी उपासित विद्या का उद्धार भी किया गया है। इनका रचित ग्रन्थ काशिका है। यह छोटा सा कारिकात्मक ग्रन्थ है। इस पर उपमन्यु की टीका है। नन्दिकेश्वर भी पट्टाश्रित-तत्त्ववादी थे। वे परम शिव को तत्त्वातीत और विश्व को ३६ तत्त्वों से बना मानते थे। परन्तु इनके द्वारा तत्त्वों की परिगणना में प्रचलित धारा से कुछ विलक्षणता है। इसमें सांख्य सम्मत पञ्चविंशति तत्त्व तो हैं ही, उसके बाद शिव, शक्ति, ईश्वर, प्राणादि-पञ्चक तथा गुण-त्रय भी माने गये हैं। यहाँ प्रधान और गुण-त्रय पृथक् पृथक् माने गये हैं। कोई कोई कहते हैं कि 'अकारः सर्ववर्णाग्रिचः प्रकाशः परमः शिवः' यह कारिका नन्दिकेश्वर की कारिका के अन्तर्गत ही है। किसी किसी ग्रन्थ में लिखा मिलता है कि दुर्वासा मुनि श्रीनन्दिकेश्वर के ही शिष्य थे। यह भी सुना जाता है कि वीरशैवाचार्य प्रभुदेव के वचनों के कन्नड़ भाषा के टीकाकार दुर्वासा-सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत थे।

ऐतिहासिक युग की तरफ दृष्टिपात करने पर दीखेगा कि भारतवर्ष की संस्कृति के वास्तविक प्रतिनिधित्व में श्रीशङ्कराचार्य, उनके पूर्वगामी या उत्तर-वर्तियों के अन्तर्गत भी तान्त्रिक उपासकों की न्यूनता नहीं थी। श्रीशङ्कर के परमगुरु श्रीगौडपाद तथा गुरुदेव श्रीगोविन्दपाद का स्थान भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के इतिहास में उच्चतम है। इस सम्बन्ध में यहाँ इस दुर्भेद्य रहस्य का संकेत करना असंगत नहीं होगा कि श्रीशङ्कराचार्य एक ओर तो वैदिक धर्म के संस्थापक थे, दूसरी ओर वही तान्त्रिक साधना के उपदेष्टा एवं प्रचारक भी थे। इस रहस्य का उचित समाधान आगे के गवेषकगण करेंगे। शङ्कराचार्य की उभय पक्षों में प्रसिद्धियाँ हैं; ऊर्ध्वतम और अधस्तन गुरु-परम्पराओं के आलोचन से प्रतीत होता है कि दोनों ओर आचार्य-परम्परायें प्रायः समान ही हैं। कुछ लोग इन दोनों प्रकार के आचार्यों को एक समझते हैं, दूसरे लोग इसे संभव नहीं मानते; किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक तथा तान्त्रिक मतों का घनिष्ठ सम्बन्ध आरब्ध हो चुका था। गौडपाद महान् वैदान्तिक हैं, उनकी माण्डूक्यकारिका अपूर्व रचना है; यह एक ओर ब्रह्मपदनिष्ठा तथा दूसरी ओर

ज्ञान-निष्ठा का परिचायक है। गौडपाद एक ओर जिस प्रकार माध्यमिक अद्वय-वाद में उसी प्रकार पक्षान्तर में योगाचारों के अद्वयवाद में भी निष्णात थे। बौद्धदर्शन में वे विशिष्ट रूप में प्रविष्ट थे। शून्यवाद तथा विज्ञप्तिमात्रतावाद दोनों का ही उन्हें अच्छा परिचय था। आगम-मत में भी उनका ज्ञान उत्कृष्ट कोटि का था, क्योंकि देवीकालोत्तर का कोई-कोई वचन उनकी कारिकाओं में उपलब्ध होता है; अवश्य ही इस पर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता। वैदिक गौडपाद का यही स्वरूप है। आगम की दृष्टि से जान पड़ता है कि वे समयाचार-सम्मत तान्त्रिक मत के पोषक थे। उनकी सुभगोदय-स्तुति प्राचीन स्तुतियों में प्रधान है। इस पर बहुत सी टीकायें थीं। प्रसिद्धि के अनुसार इस पर शंकर ने भी टीका लिखी थी। इनकी एक रचना श्रीविद्यारत्नसूत्र है, इस पर भी बहुत सी टीकायें हैं। सुना जाता है गौडपाद ने उत्तर-गीता की तरह ही देवीमाहात्म्य की भाष्य-रचना भी की थी। देवी-माहात्म्य की टीका का नाम चिदानन्दकमल (?) है। इसके लेखक तान्त्रिक नाम से परिचित गौडपाद हैं, यह भी परमहंस परिव्राजकाचार्य और अद्वैत विद्या में निष्णात थे।

भगवान् शंकराचार्य के विषय में चार प्राचीन ग्रन्थों से कुछ विवरणों का संग्रह किया गया है, जिनके समालोचन से उनके विषय में वैदिकत्व, तान्त्रिकत्व आदि आरोपणों का निर्धारण हो सकेगा।

(१) प्रथम ग्रन्थ का नाम श्रीक्रमोत्तम है। इसका निर्माण-काल प्रायः चार सौ पचास वर्ष पूर्व है। इस ग्रन्थ में शंकर की एक गुरु-परम्परा दी गयी है, उससे पता चलता है कि आदि गुरु शिव से लेकर वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौडपाद, गोविन्दपाद और शंकर का क्रम है। इसके अनुसार शंकर के शिष्य विश्वदेव थे, उनके बाद बोधघन, ग्रन्थकार मल्लिकार्जुन तक का क्रम है। इस ग्रन्थ का विषय श्रीविद्या है।

(२) द्वितीय ग्रन्थ है सुमुखि पूजा-पद्धति। इस ग्रन्थ का विषय मातंगीपूजा है। यह ग्रन्थ सुन्दरानन्दनाथ के शिष्य शंकर की रचना है। इस ग्रन्थ में उर्ध्व-तम शिव से गोविन्दपाद तक का क्रम एक समान दिखाई पड़ता है, उसके बाद शंकर। परन्तु शंकर के अनन्तर पहले हैं बोधघन और उसके बाद ज्ञानघन; इस प्रकार परम्परा क्रम भारती तीर्थ तक अवतीर्ण हुआ है।

(३) तृतीय ग्रन्थ है—श्रीविद्यार्णव। यह ग्रन्थ संप्रति प्रसिद्ध है। इससे जान पड़ता है कि शंकर के १४ शिष्य थे, ५ भिक्षु तथा ९ गृहस्थ।

(४) चौथा ग्रन्थ है—भुवनेश्वरी-रहस्य । पृथ्वीधर शंकर के शिष्य, गोविन्दपाद के प्रशिष्य और गोडपाद के वृद्धप्रशिष्य थे ।

यह सब देखने से ज्ञात होता है कि श्री शंकर श्रीविद्या के अतिरिक्त मातंगी और श्रीभुवनेश्वरी के भी उपदेष्टा थे । आशा है, ऐतिहासिक गण इस विषय में गवेषणा करेंगे ।

एक बात और भी है शंकर को शिष्य कोटि में वेदान्त प्रस्थान के जो आचार्य पद्मपाद हैं, जिन्होंने पञ्चपादिका की रचना की थी, क्या उन्होंने ही शंकर कृत प्रपञ्चसार पर टीका भी लिखी थी ? कोई-कोई प्राचीन आचार्य इस पर विश्वास करते हैं, किन्तु वर्तमान पण्डितगण इस पर संशय करते हैं । श्री शंकर की तान्त्रिक रचनाओं में प्रपञ्चसार प्रधान माना जाता है, उसके बाद सौन्दर्य-लहरी प्रभृति को । आनन्द-लहरी की सौभाग्य-वर्धनी टीका में श्री शंकर कृत एक क्रम-स्तुति की बात मिलती है, जिसमें एक प्रसिद्ध श्लोक है, जिसका तात्पर्य है कि वेद के अनुसार माया-बीज ही भगवती पराशक्ति का नाम है और यही पराशक्ति जगन्माता त्रिपुरा और त्रियोनि-रूपा है । अभिनव गुप्त को परात्रिशिका में क्रमस्तोत्र की जो बात कही गयी है, वह विचारणीय है कि क्या वह शङ्कराचार्य कृत क्रम-स्तोत्र तो नहीं है ?

तान्त्रिक-संस्कृति में मूलतः साम्य रहने पर भी देश-काल और क्षेत्र-भेद से उसमें विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ है । इस प्रकार का भेद साधकों के प्रकृति-गत भेद के अनुरोध से स्वभावतः ही होता है । भावी पीढ़ी के ऐतिहासिक गण जब भिन्न तान्त्रिक साम्प्रदायों के इतिहास का संकलन करेंगे और गहराई से उसका विश्लेषण करेंगे तो इस निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे कि यद्यपि भिन्न-भिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों में आपाततः वैषम्य प्रतिभासित हो रहा है किन्तु उनमें निगूढ रूप से मार्मिक साम्य है । संख्या में तान्त्रिक सम्प्रदाय कितने आविर्भूत हुए और पश्चात्-काल में कितने विलुप्त हुए यह कहना कठिन है । उपास्य-भेद के कारण उपासना-प्रक्रियाओं में भेद तथा आचारादि-भेद होते हैं, साधारणतया पार्थक्य का यही कारण है । शैव, शाक्त, गाणपत्य ये तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध हैं । इन सम्प्रदायों के भी अनेकानेक अवान्तर भेद हैं । शैव तथा शैव-शाक्त-मिश्र सम्प्रदायों में कुछ के निम्नलिखित उल्लेखनीय नाम हैं—सिद्धान्त शैव, वीर अथवा जंगम शैव, रौद्र, पाशुपत, कापालिक अथवा सोम, वाम, भैरव आदि । अद्वैतदृष्टि से शैवसम्प्रदाय में त्रिक अथवा प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द प्रभृति विभाग हैं । अद्वैत-मत में भी शक्ति की प्रधानता मानने पर स्पन्द, महार्थ, क्रम इत्यादि भेद

अनुभूत होते हैं। दश शिवागम और अष्टादश रुद्रागम तो सर्वप्रसिद्ध ही हैं। इनमें भी परस्पर किञ्चित्-किञ्चित् भेद नहीं हैं यह नहीं कहा जा सकता। द्वैत-मत में कोई कट्टर द्वैत कोई द्वैताद्वैत और कोई शुद्धाद्वैतवादी हैं। इनमें किसी सम्प्रदाय को भेदवादी, किसी को शिव-साम्यवादी और किसी को शिखा-संक्रान्तिवादी कहते हैं। काश्मीर का त्रिक या शिवाद्वैतवाद अद्वैतस्वरूप से आविष्ट है। शाक्तों में उत्तरकौल प्रभृति भी ऐसे ही हैं। किसी समय भारतवर्ष में पाशुपत संस्कृति का व्यापक विस्तार हुआ था। न्यायवार्तिककार उद्योतकर संभवतः पाशुपत रहे; न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ तो पाशुपत थे ही। इनकी बनाई गण-कारिका आकार में यद्यपि छोटी है किन्तु पाशुपतदर्शन के विशिष्ट ग्रन्थों में इसकी गणना है। लकुलीश पाशुपत की भी बात सुनने में आती है। यह पाशुपतदर्शन पञ्चार्यवाद-दर्शन तथा पञ्चार्य-लाकुलाम्नाय नाम से विख्यात था। प्राचीन पाशुपत सूत्रों पर राशीकर का भाष्य था, वर्तमान समय में दक्षिण से इस पर कौण्डिन्य-भाष्य का प्रकाशन हुआ है। लाकुल-मत वास्तव में अत्यन्त प्राचीन है, सुप्रभेद और स्वयम्भू आगमों में लाकुलागमों का उल्लेख दिखाई देता है। महाव्रत-सम्प्रदाय कापालिक-सम्प्रदाय का ही नामान्तर प्रतीत होता है। यामुन मुनि के आगम-प्रामाण्य, शिवपुराण तथा आगमपुराण में विभिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों के भेद दिखाये गये हैं। वाचस्पति मिश्र ने चार माहेश्वर सम्प्रदायों के नाम लिये हैं। यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने नैषध (१०, ८८) में समसिद्धान्त नाम से जिसका उल्लेख किया है, वह कापालिक-सम्प्रदाय ही है। सम शब्द का अर्थ है—उमासहित अर्थात् शिव-शक्ति-युगल। रघूत्तम ने अपने भाष्य की टीका भाष्य-चन्द्र में सोम-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। अकुलवीर-तन्त्र में भी इनकी बातें उल्लिखित हैं। कापालिक नाम के उदय का कारण नर-कपाल धारण करना बताया जाता है। वस्तुतः यह भी बहिरंग मत ही है। इसका अन्तरंग रहस्य प्रबोध-चन्द्रोदय की प्रकाश नाम की टीका में प्रकट किया गया है। तदनुसार इस सम्प्रदाय के साधक कपालस्थ अर्थात् ब्रह्मारन्ध्र उपलक्षित नरकपालस्थ अमृत या चान्द्रीपान करते थे। इस प्रकार के नामकरण का यही रहस्य है। इन लोगों की धारणा के अनुसार यह अमृतपान है, इसी से ये लोग मंहाव्रत की समाप्ति करते थे, यही व्रतपारणा थी। बौद्ध आचार्य हरिवर्मा और असंग के समय में भी कापालिकों के सम्प्रदाय विद्यमान थे। शाबरतन्त्र में १२ कापालिक गुरुओं और उनके १२ शिष्यों के नाम सहित वर्णन मिलते हैं। गुरुओं के नाम हैं—आदिनाथ, अनादि, काल, अमिताभ, कराल, विकराल आदि। शिष्यों

के नाम हैं—नागार्जुन, जडभरत, हरिश्चन्द्र, चर्पट आदि । ये सब शिष्य तन्त्र मार्ग के प्रवर्तक रहे हैं । पुराणादि में कापालिक मत के प्रवर्तक धनद या कुवेर का उल्लेख है ।

कालामुख तथा भट्ट नाम से भी सम्प्रदाय मिलते हैं, किन्तु इनका विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है । प्राचीन काल में शाक्तों में भी समयाचार और कौला-चार का भेद विद्यमान था । कुछ लोग समझते हैं कि समयाचार वैदिक मार्ग का सहवर्ती था और गौडपाद, शंकर प्रभृति समयाचार के ही उपासक थे । कौलों के भीतर पूर्व कौल और उत्तर कौल का भेद विद्यमान था । पूर्व कौल मत शिव-शक्ति, आनन्द-भैरव और आनन्द-भैरवी से परिचित है । इस मत में इन दोनों के मध्य शेष-शेषिभाव माना जाता था, किन्तु उत्तर कौल के अनुसार शेष-शेषिभाव नहीं है । इस मत में सदा शक्ति का ही प्राधान्य स्वीकृत है, शक्ति कभी शेष नहीं होती है; शिव तत्त्व रूप में परिणत हो जाता है और शक्ति तत्त्वातीत ही रहती है । जब शक्ति कार्यात्मक समग्र प्रपञ्च को अपने में आरोपित करती है तो उसका नाम होता है—कारण, और उसका पारिभाषिक नाम आधार-कुण्डलिनी है । प्राचीन समय से ही कौल-मत की आलोचना हो रही है । कौल-मत में ही मानवीय चरम उत्कर्ष की अवधि स्वीकृत होती है । इन लोगों का कहना है कि तपस्या, मन्त्र-साधना प्रभृति से चित्तशुद्धि होने पर ही कौल-ज्ञान धारण करने की मनुष्य में योग्यता आती है । सेतुबन्ध-टीका (पृ० २५) में कहा है—

पुराकृततपोदानयज्ञतीर्थजपव्रतैः ।

शुद्धचित्तस्य शान्तस्य धर्मिणो गुरुसेविनः ॥

अतिगुप्तस्य भक्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते ।

विज्ञान-भैरव की टीका में क्षेमराज ने कहा है—

वेदादिभ्यः परं शैवं शैवात् वामं तु दक्षिणम् ।

दक्षिणात् परतः कौलं कौलात् परतरं नहि ॥

किन्तु शुभागमपञ्चक के अन्तर्गत सनत्कुमार संहिता में कौल-ज्ञान की निन्दा की गयी है । कौलक, क्षपणक, दिगम्बर, वामक आदि के सम्प्रदाय बराबर माने गये हैं । शक्ति-संगम-तन्त्र के विभिन्न खण्डों में विभिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों के यत्किञ्चित् विवरण मिलते हैं । बौद्ध तथा जैन तन्त्रों के विषय में भी बहुत कुछ कहना था, किन्तु यहाँ संभव नहीं होगा ।

किसी समय में भारतवर्ष के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्तों तक और देश से बाहर भी तन्त्रों का व्यापक विस्तार हुआ था। तन्त्रों में कादि और हादि मत ५६ देशों में प्रचलित थे। इन दोनों मतों की स्थानसूचियों को परस्पर मिलाने पर पता चलता है कि किसी किसी प्रदेश में कादि हादि दोनों मत प्रचलित थे। ये सब देश भारतवर्ष के चारों ओर और मध्यभाग में अवस्थित हैं यथा—पूर्व में अंग, वंग, कलिंग, विदेह, कामरूप, उत्कल, मगध, गौड, सिलहट्ट, कैकट आदि; दक्षिण में—केरल, द्रविण, तैलङ्ग, मलयाद्रि, चोल, सिंहल आदि; पश्चिम में—सौराष्ट्र, आभीर, कोंकण, लाट, मत्स्य, सैन्धव, आदि; उत्तर में—काश्मीर, शौरसेन, किरात, कोशल आदि; मध्य में—महाराष्ट्र, विदर्भ, मालव, आवन्तक आदि। भारत के बाहर हैं—बाह्लीक, कम्बोज, भोट, चीन, महाचीन, नेपाल, हूण, कैकय, मद्र, यवन आदि।

कादि तथा हादि दोनों मतों में नाना प्रकार के अवान्तर विभाग भी थे।

तन्त्र-विस्तार का जो यत्किञ्चित् परिचय दिया गया है, उससे ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के प्रायः सभी क्षेत्रों में वैदिक-संस्कृति के समानान्तर तान्त्रिक-संस्कृति का विस्तार था। कभी-कभी इसकी स्वतन्त्र पृथक् सत्ता थी, कभी तटस्थ रूप में और कभी अंगीभूत रूप में। कभी-कभी तो प्रतिकूल रूप में भी इस संस्कृति का प्रचार हुआ, किन्तु सदा और सर्वत्र यह भारतीय संस्कृति के अंश में ही परिगणित होता था। भारतवर्ष के बाहर पूर्व तथा पश्चिम में भारतीय संस्कृति का प्रभाव फैला हुआ था, वह केवल बौद्ध संस्कृति के स्रोत से ही नहीं, ब्राह्मण्य-संस्कृति की धाराओं से भी। प्रायः १२ सौ वर्ष पूर्व जयवर्मा द्वितीय के राज्य काल में कम्बोज अथवा कम्बोडिया में भारतवर्ष से तन्त्र-ग्रन्थ पहुँचे थे। ये तन्त्र बौद्ध-तन्त्र नहीं थे, अपितु ब्राह्मण-तन्त्र थे, इन्हें शिवागम कहा जा सकता है। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) नयोत्तर (२) शिरश्छेद (३) विनय-शीख और (४) सम्मोह। ऐतिहासिकों ने प्रमाणित किया है कि नयोत्तर संभवतः निःश्वास-संहिता के अन्तर्गत नय है और उत्तर-सूत्र के साथ अभिन्न है। अष्टम शतक का लिखा निःश्वासतत्त्वसंहिता गुप्त-लिपि में दरबार पुस्तकालय नेपाल में अभी भी उपलब्ध है। ये ग्रन्थ प्रायः षष्ठ या सप्तम शतक के माने जाते हैं। प्रतीत होता है कि शिरश्छेद-तन्त्र जयद्रथ-यामल का ही नामान्तर है। जयद्रथयामल की एक प्रति नेपाल दरबार पुस्तकालय में है। विनयशीख की कोई कोई जयद्रथयामल का परिशिष्ट मानते हैं। सम्मोहन-तन्त्र भी इसी प्रकार से परिशिष्ट ही माना जाता है, यह प्रचलित सम्मोहन-तन्त्र का प्राचीन रूप है।

जैसे भारत से तन्त्र या तान्त्रिक-संस्कृति बाहर जाने की बात कही गयी है, इसी प्रकार बाहर से भी किन्हीं तन्त्रों का भारत में आने का विवरण सुना जाता है। इस विषय में कुब्जिका-तन्त्र का नाम लिया जा सकता है। वशिष्ठ के उपाख्यान के प्रसंग में चीन अथवा महाचीन से भारत में उपासना-क्रम के आने की किंवदन्ती सुनी जाती है। तारा एकजटा तथा नीलसरस्वती से अभिन्न है। तारातन्त्र नामक ग्रन्थ में संक्षिप्त विवरण निर्दिष्ट है।

पहले जो बात कम्बोज के विषय में कही गयी है, वह केवल कम्बोज ही नहीं, निकटवर्ती देशों में भी लागू है। देवराज नाम से शिव को उपासना तथा विभिन्न प्रकार की शक्तियों की उपासना भारतवर्ष से बाहर जाकर प्रचलित हुई। इन देव-देवियों के नाम हैं—भगवती, महादेवी, उमा, पार्वती, महाकाली, महिषमर्दिनी, पाशुपत भैरव आदि-आदि। चीनी भाषा में लिखित प्राचीन इतिहासों से इसका पूर्ण विवरण जाना जा सकता है। इस दिशा में आन्ध्र हिस्टारिकल सोसाइटी थोड़ा-बहुत कार्य कर रही है।

अब कुछ तन्त्र-पीठ, विद्या-पीठ, मन्त्र-पीठ आदि के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए। कामकोटि, जालन्धर, पूर्णगिरि तथा उड्डियान इन चतुष्पीठों के सम्बन्ध में कुछ परिचय लोगों को ज्ञात है। कामहृद के साथ मत्स्येन्द्रनाथ का सम्बन्ध था, जालन्धर-पीठ के साथ अभिनव गुप्त के गुरु शम्भुनाथ का, जो आजकल ज्योतिर्लिङ्ग का स्थान माना जाता है। ये सभी प्राचीनकाल में विद्या-केन्द्र अथवा पीठ स्थान में परिगणित थे। इनमें श्रीशैल या श्रीपर्वत प्रधान था। प्रसिद्धि है कि स्वयं नागार्जुन भी अन्तिम समय में यहीं तिरोहित हुए। विभिन्न तान्त्रिक विद्याओं की साधना, उसका प्रत्यक्षीकरण तथा योग्य आधार में अर्पण इन सभी पीठों में होता था। परवर्तीकाल में बौद्ध लोग नालन्दा, विक्रमशील उदन्तपुरी प्रभृति स्थानों में इन प्राचीन पीठों का अनुवर्तन किया गया। तक्षशिला का नाम तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। पूरे देश में ४९ या ५० पीठ हैं जिनका विस्तार से विवरण तन्त्र-शास्त्रों में उपलब्ध होता है। इस विषय पर डा० डी० सी० सरकार ने कुछ आलोचना की है। पीठ-तत्त्व का रहस्य अति गम्भीर है। वास्तव में पीठ का तात्पर्य है—वह स्थान है जहाँ शक्ति जागृत है और जहाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि का विषय अलिङ्ग परमतत्त्व ज्योति रूप बने। देह में भी चतुष्पीठ माने जाते हैं, अम्बिका और शान्ता शक्तियों का सामरस्य जहाँ है, वह प्रधान पीठ है, वहाँ अलिङ्ग अव्यक्त महाप्रकाश परम ज्योति रूप से अभिव्यक्त होता है। इस पीठ का पारिभाषिक नाम है—परावाक्। इसी प्रकार जहाँ इच्छा, ज्ञान, क्रिया तथा वामा, ज्येष्ठा, रौद्री शक्तियों का सामरस्य

हुआ है, वे पीठ रूप में ही परिगणित हुए हैं। अस्तु, रहस्य-विस्तार यहाँ अनावश्यक है।

अब तक जो कुछ कहा गया है, वह तान्त्रिक-संस्कृति के बाह्य-अंगों की एक लघु चित्र-छाया है, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृति का महत्त्व उसके बाह्य अवयवों के चयन तथा आडम्बरों पर निर्भर नहीं है। संस्कृति के महत्त्व का परिचायक है—मानव आत्मा की महनीयता का आदर्श-प्रदर्शन। जिस संस्कृति में आत्मा का स्वरूप-स्वातन्त्र्य और सामर्थ्य की अतिशयता जितनी अधिक व्यक्त हुई, उस संस्कृति का गौरव उतना अधिक मानना होगा। वैदिक संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में आर्य ऋषियों ने यह गाया था—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आ ये विषयधामानि तस्थुः ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

मानव आत्मा ही वह महान् आदित्यवर्ण पुरुष है, जो ज्ञान-भेद या अपरोक्षानुभव कर अतिमृत्यु-अवस्था का लाभ करता है।

तान्त्रिक-संस्कृति का निर्णय भी इसी मान-दण्ड से करना होगा। आत्मा का स्वरूप-गत और सामर्थ्य-गत पूर्णता का आदर्श ही इसके महत्त्व को प्रकट करता है। आगम शास्त्रों में इसका स्पष्ट निर्देश है कि यद्यपि आत्मा स्वरूपतः नित्यशुद्ध है, किन्तु उसकी अप्रबुद्ध अवस्था श्रेष्ठ है। अप्रबुद्ध अवस्था के चित्-स्वरूप होने पर भी चेतन न होने के कारण वह अचित् कल्प ही है। विमर्शहीन चित् या प्रकाश चित् होने पर भी अचित् के ही सदृश है, प्रकाश होने पर अप्रकाशवत्, शिव होने पर भी शववत् है। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेत् अवबोधस्य शाश्वती ।

न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥

इसीलिए आणव-मल को आदि मल माना जाता है और उसके अपनयन न होने से चित्स्वरूप अवस्था को शिवत्व-हीन पशु-कल्प अवस्था कहते हैं। उस समय आत्मा साञ्जन न होते हुए भी निरञ्जन पशुमात्र है।

इसी आधार पर तान्त्रिक-संस्कृति की उदात्त घोषणा यह है कि मनुष्य के सुप्त रहने से काम नहीं चलेगा, उसे जागना चाहिए—प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्। मानव-जीवन का लक्ष्य जिस पूर्णत्व को माना जाता है, उसकी उपलब्धि के लिए सबसे पहले आवश्यक है—अनादि तन्त्रा से जागना अर्थात् प्रबोधन, उसके बाद आत्मा की क्रमिक ऊर्ध्व-गति के मार्ग से परम शिव या परा संवित् या परा सत्ता को साक्षात्कार करना।

मनुष्य को जागना होगा, यह पहली बात है, किन्तु यह अत्यन्त कठिन व्यापार है। साधारण दृष्टि से जितनी आत्माओं की ओर दृष्टि जाती है तो देखते हैं वे सभी सुप्त हैं, निद्रा में डूबे हैं। चाहे वे कर्मरत हों, जानी हों, चाहे किसी अन्य ही भूमि के हों, किन्तु उनमें अधिकांशतः आत्म-विमर्श नहीं है। मानव-आत्मा जब अपनी विशुद्ध स्थिति में अवस्थित रहता है, तो वह अनवच्छिन्न-चैतन्य शिव से अभिन्न रहता है। अशुद्ध अवस्था में चैतन्य का अवच्छेद रहता है, इसीलिए उस समय वह ग्राहक रूप में अर्थात् परिमित अहम् के रूप में खण्ड प्रमाता बनकर अभिव्यक्त होता है। खण्ड प्रमाता के समक्ष अन्य सब प्रमेय एवं ग्राह्य रूप में प्रतीत होते हैं। ग्राहक आत्मा अपने से पृथक् ग्राह्य-सत्ता को इदं-रूपेण देखता है। चैतन्य को अवच्छिन्नता की प्रतीति ग्राह्य की ओर आत्मा की उन्मुखता से होती है। पिण्ड-विशेष से सम्बन्ध रहने के कारण दूसरे के साथ अहन्ता या अभिमान अपूर्ण है, परन्तु पूर्णत्व की अवस्था में अनाश्रित शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वात्मक समग्र विश्व ही उनका रूप या शरीर बन जाता है। अपूर्ण अहं को पूर्णता का लाभ मिलना चाहिए, यही आत्मा का परम जागरण है, इसे परम लक्ष्य के रूप में द्वैत साधना ही संकेत करती है।

अनवच्छिन्न चैतन्य में नियत विशेष रूपों का भान नहीं होता। यदि हो, तब उस अवस्था को अनवच्छिन्न न मानकर उसे ग्राहक कोटि में ही निविष्ट करना चाहिए। पूर्णत्व का भान होता है—अखण्ड सामान्य-सत्ता के रूप से। इस सामान्यात्मक महासत्ता का भान सविशेष और निविशेष उभय रूप से हो सकता है। सर्वातीत रिक्त-रूप 'भा' मात्र है और पूर्ण-रूप सर्वात्मक 'भा' है। भा-स्वरूपता उभयत्र ही विद्यमान है। इस सामान्य-सत्ता का भान ही 'स्वभाव' शब्द से बोधित होता है। वस्तुतः यह बहु के भीतर एक का अनुसन्धान है। ग्राहक आत्मा को पहले जो प्रतिनियत दर्शन होता था, वह इस अवस्था में कट जाता है, निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः अनवच्छिन्न चैतन्य की ओर प्रगति होती जाती है।

आत्मा जब तक सुप्त रहता है, अर्थात् जब तक कुण्डलिनी प्रबुद्ध-शक्ति नहीं बनती, तब तक उसका स्तर-भेद स्वाभाविक रूप से बना रहता है। उस समय उसकी अस्मिता योग्यता के तारतम्यानुसार देह, प्राण, इन्द्रिय अथवा शून्य या माया में क्रिया करती रहती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अस्मि-भाव वास्तविक संवित् का है, ग्राहक का नहीं है। पदों की बहुत संख्या है, इसका विस्तार-क्षेत्र भी अनाश्रित से लेकर पृथ्वी पर्यन्त है, किन्तु ये किसी पद के धर्म नहीं हैं, प्रत्युत चित्ति के हैं। किसी भी पद में उसकी धारणा हो सकती है,

धारणा का अभिप्राय है—दृढ अभिनिवेश । इसके प्रभाव के कारण इच्छा-मात्र से क्रियान्त उद्भव हो सकता है ।

शुद्ध आत्मा का अस्मिता-जन्य जो अभिनिवेश है, वह शुद्ध अवस्था में विद्वत् में सर्वत्र ही विद्यमान है, क्योंकि शुद्ध आत्मा ग्राहक नहीं है यह पहले ही कहा गया है । विन्दु से देह पर्यन्त विभिन्न स्थितियों में यह सर्वत्र ही व्यापक है, किन्तु व्याप्त रहने पर भी सर्वत्र ही विकास नहीं है, क्योंकि वह भावना-सापेक्ष है । जिसको कर्तृत्व, ईश्वर या स्वातन्त्र्य कहा जाता है, वह अहन्ता का विकास छोड़कर अन्य कुछ नहीं है । इसे ही तान्त्रिक सिद्ध गण चित्स्वरूपता कहते हैं । जितने प्रकार की सिद्धियाँ हैं, वे सब अहन्ता से ही अनुप्राणित हैं ।

तान्त्रिक-योग या ज्ञान-साधना का लक्ष्य सुप्त आत्मा को जागृत करना है । जिन आत्माओं से हम लोग परिचित हैं वे प्रायः सुप्त हैं क्योंकि इनकी दृष्टि से चिद् अचित् परस्पर विलक्षण हैं । सुप्त आत्मा की दृष्टि से ग्राहक चिद्रूप है और ग्राह्य अचिद्रूप । समग्र विश्व अखण्ड प्रकाश लोक है और आत्मा के ही अन्तःस्थित है । फिर भी सुप्त आत्माएँ उन्हें अपने बाहर समझती हैं । यह सुप्त आत्मा ही संसारी आत्मा है जिससे हम लोग परिचित हैं । आत्मा की सुप्ति भंग होने के साथ-साथ इस स्थिति में भी परिवर्तन होने लगता है, यह शुद्ध विद्या के प्रभाव से होता है । इन आत्माओं की तात्कालिक अवस्था को ठीक ठीक न सुप्ति और न जागरण ही कहा जाता है । यह अवस्था दोनों के बीच की कही जा सकती है । उस समय सुप्तिजनित-भेद की प्रतीति रहती है, किन्तु जागरण का अभेद भी प्रतीत होता रहता है । इन लोगों का संसार नहीं रहता, किन्तु संसार का संस्कार रह जाता है । इन लोगों की स्थिति न भव की और न उद्भव की कही जा सकती है, किसी अंश में यह पातञ्जल दर्शन के संप्रज्ञात समाधि के अनुरूप है क्योंकि उस दशा में अविवेक रह जाता है । इसके बाद शुद्ध चित् का प्रकाश होता है जो किसी अंश में पातञ्जल मार्ग के विवेकख्याति के सदृश है । यह स्वप्नवत् अवस्था है न ठीक सुप्ति है और न ठीक जाग्रत । इसीलिए इसे ठीक ठीक प्रबुद्ध अवस्था नहीं कहा जा सकता । यहाँ यह स्मरण अवश्य रखना चाहिए कि इस अवस्था में कर्म-क्षय सिद्ध हो चुका है, इसलिए एक दृष्टि से इन आत्माओं को मुक्त भी कहा जा सकता है फिर भी तान्त्रिक दृष्टि से इन्हें मुक्त नहीं कहा जा सकता । तान्त्रिक परिभाषा में ये आत्माएँ रुद्राणु नाम से अभिहित होती हैं और पशु कोटि में गिनी जाती हैं । हाँ, ये आत्माएँ अवश्य ही सवित् मार्ग के सिद्धान्त-ग्रहण का अधिकार प्राप्त कर लेती हैं ।

इसके बाद ही यथार्थ जागरण की सूचना मिलती है। उस समय प्रमाता वस्तुतः प्रबुद्ध हो जाता है, इसमें भेद दृष्टि नहीं रहती, किन्तु साथ साथ भेद और अभेद दोनों के संस्कार रहते हैं। इस अवस्था में भी इदंरूपेण जडावस्था की प्रतीति रहती है। ये सभी आत्माएँ समग्र जगत् को अपने शरीर के सदृश अनुभव करती हैं। किसी प्रकार यह अवस्था ईश्वर के अनुरूप है, इसके भीतर अधिकाधिक वैचित्र्य है जो स्वानुभव-संवेद्य है।

इसके बाद जागरण और भी स्पष्टरूप से होता है। उस समय प्रबुद्ध 'भा' की वृद्धि होती है और उसके प्रभाव से इदं-प्रतीति-त्रेद्य-प्रमेय अहं-रूप-आत्म-स्वरूप में निमग्न होकर निमिषवत् प्रतीत होता है। इतना होने पर भी यह सुप्रबुद्ध अवस्था नहीं है; यद्यपि प्रबुद्ध अवस्था से उत्कृष्ट अवश्य है। तान्त्रिक योगी गण इन आत्माओं को उद्भवी नाम से आख्यात करते हैं। ये सभी आत्माएँ अभेद-प्रतिपत्ति अथवा कैवल्य-प्राप्ति के द्वारा अहमात्मक-स्वरूप में निमग्न रहती हैं, यहाँ भी इदन्ता रहती है किन्तु वह अहन्ता से आच्छादित रहने के कारण अस्फुट रहती है। इस अवस्था को किसी अंश में सदाशिव के अनुरूप माना जा सकता है। किन्तु यह भी पूर्णत्व नहीं है।

इतने बड़े दीर्घमार्ग के अतिक्रमण करने पर वास्तव-पूर्णता का उदय होता है किन्तु उदय-मात्र होता है, उसका स्थायित्व नहीं रहता; क्योंकि उस समय भी उन्मेष निमेष का व्यापार चलता रहता है। इस व्यापार के प्रभाव से स्थिति रहती है ईश्वर के सदृश। उस समय उन्मेष विद्यमान रहता है और किसी समय उसकी स्थिति रहती है सदाशिव के सदृश, जब उसमें निमेष विद्यमान रहता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में सभी समय महाप्रकाश अनावृत रहता है, शिवादि-धरान्त विश्व का भान कभी रहता है कभी नहीं रहता। जब विश्व का भान रहता है तब प्रकाशात्मक रूप से ही उन्मेष रहता है। और जब नहीं रहता तब प्रकाशात्मक रूप से ही निमेष रहता है, इसके बाद पूर्णता को स्थायित्व प्राप्त होता है।

पूर्णत्व का स्फुरण बताया गया है। वह पूर्णत्व होते हुए भी स्थायी नहीं हो सका, क्योंकि उसके साथ मन का सम्बन्ध था। मन के रहने के समय उसके सम्बन्ध से उन्मेष होता है और मन के निमग्न हो जाने पर मन का सम्बन्ध न रहने से निमेष रहता है। मन के रहने के कारण ही उन्मेष या निमेष की संभावना बनी हुई थी उसके बाद मन भी उत्क्रान्त हो जाता है। इस अवस्था में उन्मनी अवस्था का आविर्भाव हो जाता है। और उसके प्रभाव से पूर्णत्व

सिद्ध हो जाता है, इसे ही आगमवित् सुप्रबुद्ध अवस्था के रूप में गणना करते हैं। इस अवस्था में आत्मा का जागरण पूर्ण हुआ यह कहा जा सकता है। इस समय इच्छामात्र विभूति की सिद्धि या आविर्भाव होता है।

सिद्धि के रहस्य के संबंध में एक दो बातें करनी चाहिए। यह स्मरण रखना होगा कि तत्त्व और अर्थ दोनों में किसी एक का आश्रय करके ही सिद्धि का उदय हो सकता है। जागतिक दृष्टि से जगत् के प्रत्येक पदार्थ का कोई विशिष्ट क्रिया-कारित्व है, योगी गण संयम के द्वारा तत्तद् अर्थों से भिन्न-भिन्न कर्म संपादन कर सकते हैं। तत्त्वमूलक सिद्धि के दो प्रकार हैं परा तथा अपरा। पातञ्जल योग में भी तत्त्व-जय के आधार पर सिद्धियों का विवरण मिलता है। अर्थ-विशेष में आत्म-भावना करके योगी तद्रूप होते हैं और उस कार्य का संपादन करते हैं। जो देवता जिस अर्थ का संपादन करता है योगी उस देवभाव में अहं-भाव करके उस अर्थ का संपादन उस देवता से कर लेता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी तत्त्व में अहन्ता का अभिनिवेश करने पर तदनुरूप सिद्धि का उदय हो सकता है। माया पर्यन्त ३१ तत्त्वों का अवलम्बन करके इसी प्रकार की सिद्धियाँ की जाती हैं। इन सिद्धियों का नामान्तर गुहा-सिद्धि है, गुहा माया का ही पर्याय है। मायातीत शुद्ध विद्या अथवा सरस्वती का आश्रय करके जिन सिद्धियों का उदय होता है उनका नाम तत्त्वमूलक परा-सिद्धि है। लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए अपरा-सिद्धियाँ की जाती हैं।

ये परा अपरा सिद्धियाँ खण्ड सिद्धियाँ ही हैं महासिद्धि नहीं। महासिद्धि इनसे भी उत्कृष्ट है। ये दो प्रकार की हैं। एक सकलीकरण और अन्तिम महासिद्धि जिससे शिवत्व लाभ करते हैं। सकलीकरण की अवस्था में योगी को पहले भीषण ज्वलन का अनुभव होता है, उसके बाद ही आती है शान्त स्निग्ध शीतलता। जिस समय कालाग्नि योगी के देह में अवस्थित सभी पाशों को दग्ध करता है, उस समय पडड्वा का दाह हो जाता है। उसी अवस्था में भीषण ताप का अनुभव होता है। योगी अपने शरीर में इस ताप का अनुभव करता है, इसके बाद स्निग्ध अमृत रस से मानों योगी की सकल सत्ता आप्लावित हो जाती है। इसी समय योगी पूर्णतया इष्टदेवता का साक्षात्कार लाभ करते हैं। उस समय योगी शोधित अध्वा या समग्र विश्व का अनुग्राहक बन जाता है, यह जो अमृत-प्लावन है इसी का नाम पूर्णाभिषेक है। योगी इस अवस्था में प्रतिष्ठित होकर जगद्-गुरु पद में अधिष्ठित होते हैं। इस प्रकार का पूर्णत्व प्राप्त करने पर भी उसे भी अतिक्रम करके उठना पड़ता है क्योंकि यह अपूर्ण स्थिति

तान्त्रिक-संस्कृति

२३

है। इसके बाद यथार्थतः पूर्ण ख्याति का उदय होता है। उसी का नाम शिवत्व या परम शिव की अवस्था है। यही वास्तविक पूर्णत्व है, इस अवस्था में पूर्ण-स्वातन्त्र्य का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में इच्छा-मात्र से भुवन-रचना का अर्थात् विश्व-रचना के अधिकार की प्राप्ति होती है, पञ्चकृत्यकारित्व का आविर्भाव भी इसी समय होता है।

बौद्धशास्त्र में सुखावती की रचना अमिताभ बुद्ध के द्वारा हुई थी, कहा जाता है यह इसी स्थिति के अनुरूप व्यापार है। विश्वामित्र प्रभृतियों की जगद्-रचना का विवरण-प्रकार भी शास्त्र में परिचित है। तान्त्रिक अध्यात्म संस्कृति का लक्ष्य इसी परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त करना है, केवल मात्र स्वर्गादि ऊर्ध्व लोक तथा लोकान्तरों में गति या कैवल्य अथवा निरञ्जन भाव की प्राप्ति अथवा मायातीत अधिकारी पद का लाभ मात्र नहीं है। मनुष्य-मात्र की आत्मा में इस अवस्था की प्राप्ति की स्वरूप-योग्यता है। यह तान्त्रिक-संस्कृति का अवदान तुच्छ नहीं समझा जा सकता है।

●

